मध्य प्रदेश राज्य कानूनी सेवाएँ प्राधिकरण

बनाम

प्रतीक जैन वगैरह।

(2014 की सिविल अपील संख्या 8614)

10, सितंबर, 2014

[जे. चेलामेश्वर और ए. के. सिकरी, जे. जे.]

वैकल्पिक विवाद पुनर्वितरणः

लोक अदालतें-उद्देश्य और लाभ-चर्चा-संहितो-सिविल प्रक्रिया, 1908-धारा 89-कानूनी सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987-एस. 19.

लोक अदालतें-दिए गए निर्देशों/दिशानिर्देशों की प्रयोज्यतो दामोदर एस. प्रभु मामले में जो लोक अदालतों में हल/सुलझाए जाते हैं-चेक अनादरण का विवाद-विवाद का निपटान-पक्षकारों द्वारा निर्दिष्ट करने के लिए आवेदन लोक अदालत का मामला-आयोजितः यदि मामला पक्षकारों के बीच में सुलझा लिया जातो है तब इसे लोक अदालत में भेजने की आवश्यकतो नहीं है-सुलझे हुए मामलों को लोक अदालत में भेजने की प्रवृत्ति की निंदा की गई जब लोक अदालत में किसी मामले का निर्णय लिया जातो है, तो *दामोदर एस. प्रभु में निहित दिशानिर्देशो की आवश्यकतो सामान्य तोर पर नही होनी चाहिए, के साथ वितरित नहीं किया जाएगा- हालांकि, यदि इससे

विचलित होने का कोई विशेष/विशिष्ट कारण है तो न्यायालय उपचारहीन नहीं है क्योकि *दामोदर एस. प्रभु ने स्वयं संबंधित न्यायालय को विशिष्ट मामलों के संबंध में कम करने का विवेकाधिकार दिया है एसे मामलों में एसे मतभेदों के बारे में लिखित रूप में कारण दर्ज करते समय, एसे मामलों में जहां मामले का निर्णय/निपटान लोक अदालत में किया जाना है, यदि न्यायालय को लगतो है कि उपयुक्त मामलों में पक्षों के सकारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है, तो एसे उचित मामलों में, न्यायालय हमेशा न्यूनतम कॉस्ट लगाकर या उसे माफ करके कॉस्ट को कम कर सकतो है- इसके लिए कॉस्ट में छूट/कमी के लिए एक विश्वसनीय मामला बनाना पक्षों, विशेष रूप से अभियुक्त पर निर्भर करेगा और संन बनाएगी। प्रतिस्पर्धी लेकिन समान रूप से महत्वपूर्ण हित, अर्थात, एक तरफ *दामोदर एस. प्रभु में वर्णित उद्देश्यो को प्राप्त करना और दूसरा जनहित जो मांगा गया है लोक अदालतों के माध्यम से मामलों के निपटान/समाधान को प्रोत्साहित करके प्राप्त किया जाना-परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881-धारा.147।

प्रतिवादी सं. 1 प्रतिवादी संख्या 2 के विरूद्ध चेक अनादरण का शिकायतकर्तो था। मामला आपराधिक अपील के रूप में अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के समक्ष पहुंचा और अपील के लंबित रहने के दौरान, दोनों पक्षों परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 147 के तहत एक संयुक्त आवेदन दायर किया गया था जिसमें कहा गया था कि उनके बीच एक

समझौतो हो गया है और वह पारस्परिक सहमति के साथ प्रत्यर्थी सं. 1 प्रतिवादी सं. 2 के खिलाफ कार्यवाही नही करना चाहते हैं। समझौते के आधार पर उनके आवेदन पर मामला लोक अदालत को भेजा गया था। हालाँकि, चूंकि जमा राशि *दामोदर एस. प्रधु में दिये गये निर्देश के संदर्भ में नहीं की गई थी, इसलिए लोक अदालत के पीठासीन अधिकारी ने उक्त समझौते को प्रमुखतो नहीं दी। प्रतिवादी सं. 2 ने उच्च न्यायालय के समक्ष एक रिट याचिका दायर की जिसे खारिज कर दिया गया था।

मौजूदा अपील में विचार के लिए प्रश्न यह था कि क्या दामोदर एस. प्रभु मामले में दिए गए निर्देश/दिशा-निर्देश उन मामलों में लागू नहीं होतो है जो हैं-लोक अदालतों में हल/निपटाए जाते हैं।

अपील का निपटारा करते हुए, अदालत ने

अभिनिर्धारित किया:

1. निस्ससंदेह, कानूनी सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 की धारा 19 के तहत जिस उद्देश्य और उद्देश्य के साथ लोक अदालतों का गठन किया गया है, वह इन लोक अदालतों के माध्यम से त्वरित समाधान करना है, साथ ही कॉस्ट में कटौती के अतिरिक्त लाभ मुकदमेबाजी और आगे की अपीलों से बचना भी है 1987 अधिनियम के आगमन ने भारत का संविधान के अनुच्छेद 39-ए में संवैधानिक आदेश के अनुसार, लोक अदालतों को वैधानिक दर्जा दिया। यह समाज के कमजोर वर्गों को मुफ्त

और सक्षम कानूनी सेवाएं प्रदान करने के लिए एक अधिनियम है तोकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि किसी भी नागरिक को आर्थिक या अन्य अक्षमतोओं के कारण कोई भी नागरिक न्याय पाने के अवसरों से वंचित नहीं किया जाए, और लोक अदालतों का आयोजन किया जाए। यह सुनिश्चित करें कि कानूनी प्रणाली समान अवसर के आधार पर न्याय को बढ़ावा दे। वास्तव में लोक अदालत की अवधारणा एक न्याय वितरण प्रणाली का एक नया रूप है और काफी हद तक पीड़ितों को उनके विवादों के निपटारे के लिए पूरक मंच प्रदान करने में सफल रहा है। यह व्यवस्था गांधीवादी सिद्धांतों पर आधारित है। यह वैकल्पिक विवाद समाधान प्रणालियों के घटकों में से एक है जो सिविल प्रक्रिया संहितो की धारा 89 में विशेष रूप से प्रावधान किया गया है। यह मुकदमेंबाजी का एक बहुत ही प्रभावी विकल्प साबित हुआ है। लोक आदालतें उपचार और सुरक्षा तक पहुंच बहाल करने और नियमित अदालतों में रूकावट डालने वाले लाखों छोटे-छोटे मामलों के संस्थागत बोझ को कम करने के लिए है। यह पीडित दावेदार को, जिसका मामला अन्यथा दशकों तक नियिमत आदलतों में चलतो, कम से कम अब कुछ राहत प्रदान करतो है। लोक अदालत का पीठासीन न्यायधीश जनसेवा के दस्तोवेजी रिकार्ड वाला एक अनुभवी न्यायनिर्णायक होतो है और उनके पास कानूनी कौशल होतो है। अनुभव यह दर्शातो है कि न केवल बड़ी संख्या में मामलों का निपटारा किया जातो

है, बल्कि इस प्रणाली के निश्चित फायदे भी हैं, जिनमें से कुछ नीचे सूचीबद्ध हैंः

(क) त्वरित न्याय और लंबी अदालती प्रक्रियाओं से मुक्ति;

(ख) बिना किसी कॉस्ट के न्याय;

(ग) लंबित मामलों की समस्याओं का समाधान; और

(घ) सौहार्दपूर्ण संबंधों को बनाए रखना। इसलिए इसमें सन्देह नहीं किया जा सकतो कि लोक अदालतें एक महत्वपूर्ण सार्वजनिक उद्देश्य की पूर्ति कर रही हैं। [पैरा 15] [756-सी-एच; 757-ए-डी]

2. न्यायालय ने, मौजूदा मामले में समझौते के लिए लोक अदालत के माध्यम का उपयोग करने के लिए पक्षकार को राजी नहीं किया। इसके विपरीत, पक्षों ने पहले ही आपस मे सुलझा लिया था और अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के समक्ष इस संबंध में आवेदन दायर कर एक अनुरोध किया गया था कि मामले को उसी तोरीख को आयोजित होने वाली लोक अदालत के समक्ष उठाया जाए। प्रथम दृष्टया, जब पक्षकरों ने आपस में मामला सुलझा लिया था और इस आश्य का आवेदन न्यायालय में दायर किया गया था, तो मामले को लोक आदलत में भेजने की आवश्यकतो नहीं थी। एसी स्थिति में, न्यायालय मामले को लोक अदालत में स्थानांतरित करने के बजाय स्वयं आदेश पारित कर सकतो था। यह सुनिश्चित करने के लिए विधियाँ तैयार करने की आवश्यकतो है कि व्यवस्था में विश्वास कायम रहे

क्योकि समग्र रूप से इस प्रणाली के माध्यम से न्याय तक पहुँच प्राप्त की जाती है। जिन मामलों का निपटारा हो चुका है उन मामलों को भी लोक अदालतों में भेजने की यह प्रवृत्ति निंदनीय है। केवल सांख्यिकीय उद्देश्यों के लिए निर्णय/निपटान के आंकड़ों को बढाने के लिए निपटाए गए मामलों को लोक अदालतों में भेजने की यह प्रवृति एक स्वस्थ अभ्यास नहीं हैं। वकीलों, बुद्धिजीवियों और आम जनतो द्वारा विंडो ड्रेसिंग के लिए इस तरह की कार्यप्रणाली अपनाने और विशेष लोक आदलतों के लाभदायक परिणाम दिखाने की आलोचना की जा रही है। [पैरा 17 और 18] [757-एफ-एच; 758-ए-ई]

* दामोदर एस.प्रभु बनाम सैयद बाबालाल एच.(2010) 5 एससीसी 663:2010 (5) एससीआर 678- पर निर्भर।

3. वर्तमान मामले में, जब पक्षकारों के बीच मामला सुलझ गया था और इस सम्बंध में अदालत के समक्ष आवेदन किया गया था, तो इस बात से इनकार नहीं किया जा सकतो है कि अदालत ने अधिनियम की धारा 147 के तहत आवेदन पर समझौतो आदेश पारित किया था, जैसा कि *दामोदर एस. प्रभु की कठोरतो के अनुसार, चेक राशि का 15 प्रतिशत अनिवार्य रूप से अभियुक्त व्यक्ति (प्रतिवादी संख्या 2) द्वारा जमा किया जाना था । यदि यह माना जातो है कि मामले को लोक अदालत में भेजे जाने पर एसी कॉस्ट का भुगतोन नहीं किया जाना है, तो *दामोदर एस

प्रभु. में निहित निर्देशों की प्रयोज्यतो को दरकिनार करने के लिए आम तौर पर इस मार्ग का सहारा लिया जाएगा। ऐसी स्थिति को बर्दाश्त नहीं किया जा सकतो है। [पैरा 19] [758-ई-जी]

4. "दामोदर एस. प्रभु मामला मामले के उस चरण से सम्बंधित था जब अधिनियम की धारा 147 के तहत अपराध के शमन की अनुमति दी जानी है। न्यायालय ने देखा कि आरोपी व्यक्तियों की ओर से इसे खींचने की प्रवृत्ति थी। कार्यवाही और निपटान प्रक्रिया का सहारा केवल उसी चरण में लिया जातो है जब आरोपी व्यक्तियों को दीवार में धकेल दिया जातो है। यही कारण है कि दर्ज की गई अधिकांश शिकायतों में एक तरफ अन्तिम निर्णय से पहले समझौतो या निपटान होतो है यहां तक कि उन मामलों में भी जहां फैसला सुनाया जातो है और दोषसिद्धि दर्ज की जाती है, ऐसे मामलों का निपटारा अपीलीय स्तर पर किया जातो है। इस विशेष प्रवृत्ति ने न्यायालय को उन पक्षों पर जुर्माना लगाने की एक श्रेणीबद्ध योजना के लिए दिशानिर्देश तैयार करने के लिए अटॉर्नी जनरल के अनुरोध को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया था, जो अपराध के शमन में अनावश्यक देरी करते हैं। जहाँ तक कॉस्ट जमा करने की आवश्यकतो है विलंबित रचना के लिए एक निवारक के रूप में कार्य करेगी क्योंकि किसी भी स्तर पर अपराधों का आसान समझौतो, चाहे कितना भी विलम्बित क्यो ना हो, चेक जारी करने वाले को वर्षों तक मामलों के निपटारे में देरी करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया था। इस कारण से, न्यायालय ने

अनुमति देते हुए दिशानिर्देश तैयार किये। कोर्ट ने ये स्पष्ट कर दिया कि उक्त दिशानिर्देशों को तैयार करना न्यायिक कानून नही है। न्यायालय की राय में, चूंकि धारा 147 अधिनियम के तहत अपराधों के शमन के साथ आगे बढने के बारे में कोई मार्गदर्शन नहीं था और दण्ड प्रक्रिया संहितो, 1973 की धारा 320 का इस संबंध में कड़ाई से पालन नहीं किया जा सका। अधिनियम की धारा 138 से संबंधित अपराधो के मामले में, एक विधायी शून्यतो थी जिसने न्यायालय को निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उन दिशानिर्देशों को तैयार करने के लिए प्रेरित कियाः वे दिशानिर्देश:

(i) अधिनियम की धारा 138 से सम्बंधित मामलों में अपराधों की संरचना में अनावश्यक देरी करने से वादियों को हतोत्साहित करना;

(ii) इसके परिणामस्वरूप मुकदमेबाजी के प्रारंभिक चरण में कम्पाउडिंग को बढावा मिलेगा जिससे न्यायालय के बहुमूल्य समय की बचत होगी; और

(iii) भले ही सक्षम न्यायालय द्वारा कॉस्ट लगाना विवेक का मामला है, एकरूपतो प्राप्त करने के लिए कॉस्ट के पैमाने का सुझाव दिया गया था। साथ ही, न्यायालय ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि संबंधित न्यायालय किसी मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों के संबंध में कॉस्ट को कम करने के लिए स्वतंत्र होगा, जबकि ऐसे कारणों को लिखित

रूप में दर्ज करेगा. [पैरा 21, 22 और 24] [759-ए, डी-एफ; 760-जी-एच; 761-ए; 762-बी-जी]

ओ. पी. ढोलकिया बनाम हरियाणा राज्य (2000) 1 एससीसी 672; के.एन. गोविंदन कुट्टी मेनन बनाम सी. डी. शाजी (2012) 2 एससीसी 51:2011 (15) एस.सी. आर. 447- पर निर्भर।

5. यहां तक कि जब किसी मामले का फैसला लोक अदालत में होतो है, तब भी दामोदर एस. प्रभु में निहित दिशानिर्देशों की आवश्यकतो को सामान्य रूप से समाप्त नहीं किया जाना चाहिए। हालाँकि, यदि इससे विचलित होने का कोई विशेष/विशिष्ट कारण है, तो न्यायालय उपचारात्मक नहीं है क्योंकि दामोदर एस. प्रभु ने स्वयं संबंधित न्यायालय को कारण दर्ज करते समय मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों के संबंध में कॉस्ट कम करने का विवेक दिया है ऐसे विचरण के बारे में लिखित रूप में। इसलिए, उन मामलों में जहां मामले का फैसला/निपटारा लोक अदालत में किया जाना है, यदि न्यायालय को लगतो है कि यह पार्टियों के सकारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है, तो ऐसे उचित मामलों में, न्यायालय हमेशा न्यूनतम जुर्माना लगाकर कॉस्ट को कम कर सकतो है। कॉस्ट या उसे माफ भी कर सकते हैं। इसके लिए, यह पार्टियों, विशेष रूप से आरोपी व्यक्ति पर निर्भर करेगा कि वे कॉस्ट में छूट/कमी के लिए एक विश्वसनीय मामला बनाएं और संबंधित न्यायालय को इसके बारे में समझाएं। कार्रवाई

का यह तरीका दो प्रतिस्पर्धी लेकिन समान रूप से महत्वपूर्ण हितों के बीच संतुलन बनाएगा, अर्थात, एक तरफ दामोदर एस. प्रभु में उल्लिखित उद्देश्यों को प्राप्त करना और दूसरी तरफ सार्वजनिक हित, जिसे लोक अदालतों के माध्यम से मामले के निपटान/समाधान को प्रोत्साहित करके हासिल किया जाना है। पक्षों ने मामले को पहले ही सुलझा लिया था और लोक अदालत में जाने का उद्देश्य केवल लोक अदालत की मुहर के रूप में उसकी मोहर लगाना था, आक्षेपित निर्णय में कोई त्रुटि नहीं थी। [पैरा 26,27] [763-सी-एच; 764-ए]

केस कानून संदर्भ:

2010 (5) एससीआर 678 पर निर्भर	पैरा 3
2011 (15) एससीआर 447 पर निर्भर	पैरा 13
(2000) 1 एससीसी 672 पर निर्भर	पैरा 20

सिविल अपीलीय क्षेत्राधिकार: सिविल अपील संख्या 8614/2014

ग्वालियर में म.प्र.उच्च न्यायालय की रिट याचिका संख्या 1519/2012 निर्णय एवं आदेश दिनांक 27.02.2012 से

अपीलकर्तोओं के लिए वरुण के. चोपड़ा, राहुल कौशिक।

न्यायालय का निर्णय इनके द्वारा सुनाया गया

ए.के. सीकरी, जे.

1. अनुमति प्रदान की गई।

2. मध्य प्रदेश राज्य विधिक सेवा प्राधिकरण, यहां अपीलकर्तो, ने 2012 की रिट याचिका संख्या 1519 में मध्य प्रदेश के उच्च न्यायालय द्वारा पारित 27 फरवरी, 2012 के आदेशों की औचित्य को चुनौती देते हुए त्वरित अपील दायर की है, जो एक राकेश कुमार द्वारा दायर की गई थी। राकेश जैन (यहाँ प्रतिवादी संख्या 2) ने प्रतीक जैन (यहाँ प्रतिवादी संख्या 1) को एकमात्र प्रतिवादी बनाया है। अनिवार्य रूप से मामला प्रतिवादी नंबर 1 और 2 के बीच था। प्रतिवादी नंबर 1 ने प्रतिवादी नंबर 2 के खिलाफ परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 (इसके बाद 'अधिनियम' के रूप में संदर्भित) की धारा 138 के तहत शिकायत दर्ज की थी। मामला आपराधिक अपील के रूप में अपर सत्र न्यायाधीश के समक्ष पहुंचा। उक्त अपील के लंबित रहने के दौरान दोनों पक्षों के बीच मामले का निपटारा हो गया। उनके आवेदन पर मामला मेगा लोक अदालत में भेजा गया। हालाँकि, लोक अदालत में संबंधित पीठासीन अधिकारी ने दामोदर एस. प्रभु बनाम सैयद बाबालाल एच . (2010) में इस न्यायालय के फैसले में दिए गए निर्देश के अनुसार जमा राशि के अभाव में उक्त समझौते पर अपनी मुहर नहीं दी) 5 एससीसी 663। अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के आदेश के खिलाफ, प्रतिवादी संख्या 2 द्वारा एक रिट याचिका दायर की गई थी, लेकिन उच्च न्यायालय ने भी अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश द्वारा लिए गए विचार को स्वीकार करते हुए इसे खारिज कर दिया है।

3. उपरोक्त से, यह स्पष्ट होगा कि मामला प्रतिवादी संख्या 1 और 2 के बीच था। अपीलकर्तो केवल इसलिए सामने आया क्योंकि पार्टियों ने अपीलकर्तो द्वारा आयोजित मेगा लोक अदालत से संपर्क किया था। वर्तमान अपील दायर करने का कारण अपीलकर्तो की यह आशंका है कि यदि लोक अदालतों में हुआ समझौतो न्यायालयों द्वारा स्वीकार नहीं किया जातो है, तो यह कानूनी सेवा प्राधिकरण अधिनियम द्वारा निर्धारित कानूनी सेवा प्राधिकरण के आवश्यक कार्यों और कर्तव्यों में से एक है। 1987 (इसके बाद '1987 अधिनियम' के रूप में संदर्भित) बहुत पूर्वाग्रहपूर्ण होगा और इसलिए, विषय वस्तु पर कानून को सीधा करना आवश्यक है। इसमें शामिल मुद्दे के महत्व को स्वीकार करते हुए, अपीलकर्तो को विशेष अनुमति याचिका दायर करने की अनुमति दी गई और 06 दिसंबर, 2012 को विशेष अनुमति याचिका में नोटिस जारी किया गया। उच्च न्यायालय के आक्षेपित आदेश के कार्यान्वयन पर भी निम्नलिखित शब्दों में रोक लगा दी गई थी:

> "इस बीच, विधिक सेवा प्राधिकरण अधिनियम, 1987 के प्रावधानों द्वारा प्राप्त किए जाने वाले उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए, 30 जुलाई, 2011 को लोक अदालत-1, ग्वालियर, मध्य प्रदेश द्वारा पारित आदेश का कार्यान्वयन, और इस याचिका में उच्च न्यायालय ने जिस आदेश पर आपत्ति जतोई है, उस पर रोक रहेगी।"

4. दोनों उत्तरदातोओं को विधिवत नोटिस दिया गया है, लेकिन उनमें से कोई भी उपस्थित नहीं हुआ है। जैसा भी हो, चूँकि हम इस अपील में उठाए गए बड़े सवाल से चिंतित हैं, इसलिए हम उत्तरदातोओं की ओर से किसी भी प्रतिनिधित्व के अभाव में अपीलकर्तो के लिए विद्वान वकील की कड़ी आलोचना करते हैं।

5. विवाद के उपरोक्त सार के साथ, अब हम कुछ विस्तोर से प्रासंगिक तथ्यों पर ध्यान देने के लिए आगे बढ़ते हैं।

6. जैसा कि ऊपर बतोया गया है, प्रतिवादी संख्या 1 और 2 के बीच कुछ विवाद था। विवाद की प्रकृति अपीलकर्तो द्वारा दायर कागजात से प्रतिबिंबित नहीं होती है। हालाँकि, चूंकि यह अधिनियम की धारा 138 के तहत दायर एक शिकायत से संबंधित है, इसलिए कोई भी सुरक्षित रूप से अनुमान लगा सकतो है कि शिकायत चेक के अनादरण के कारण दर्ज की गई थी। रिकॉर्ड से यह भी पतो चलतो है कि यह शिकायत प्रतिवादी नंबर 1 द्वारा प्रतिवादी नंबर 2 के खिलाफ दायर की गई थी और इसके परिणामस्वरूप प्रतिवादी नंबर 2 के खिलाफ कुछ सजा/प्रतिकूल आदेश दिया गया था, हालांकि विद्वान मजिस्ट्रेट द्वारा पारित आदेशों की सटीक प्रकृति नहीं है। अभिलेख जो भी हो, प्रतिवादी नंबर 2 ने मजिस्ट्रेट के आदेश के खिलाफ अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश की अदालत में अपील दायर की थी।

7. इस अपील के लंबित रहने के दौरान, दोनों पक्षों द्वारा एक संयुक्त आवेदन दायर किया गया था जिसमें कहा गया था कि उनके बीच आपसी सहमति से समझौतो हो गया है और उन्होंने अपने रिश्ते को फिर से स्थापित कर लिया है और भविष्य में भी ऐसे ही सौहार्दपूर्ण संबंध बनाए रखना चाहते हैं। उस आधार पर आवेदन में कहा गया था कि प्रतिवादी नंबर 1 यहां प्रतिवादी नंबर 2 के खिलाफ कार्यवाही नहीं करना चाहतो था और चाहतो था कि अपील में समझौतो विलेख दाखिल करके समझौते के आधार पर अपील का निपटारा किया जाए। यह आवेदन अधिनियम की धारा 147 के तहत दायर किया गया था जो ऐसे अपराधों के समझौते की अनुमति देतो है। हम इस स्तर पर यह बतोना चाहेंगे कि पार्टियों ने किन शर्तों पर मामला सुलझाया था, यह रिकॉर्ड में नहीं है क्योंकि समझौतो विलेख दाखिल नहीं किया गया है।

8. जब यह आवेदन 30 जुलाई, 2011 को विद्वान अपीलीय न्यायालय के समक्ष सुनवाई के लिए आया, तो दोनों पक्षों के वकील ने अनुरोध किया कि मामले को मेगा लोक अदालत में भेज दिया जाए, जो उसी तोरीख को आयोजित किया जा रहा था। इस आवेदन पर विद्वान अपर सत्र न्यायाधीश द्वारा निम्नलिखित आदेश पारित किया गया:

"30.07.2011

XX XX XX

समझौतो और अनुरोध के लिए दोनों पक्षों की ओर से धारा 147 समझौतो (एसआईसी) उपकरण अधिनियम के तहत एक आवेदन दायर किया गया है तोकि मामले को आज की तोरीख में आयोजित लोक अदालत से पहले उठाए जाने का निर्देश दिया जा सके।

आवेदन में उल्लिखित तथ्यों को देखते हुए समझौतो आवेदन को निरस्त करने के लिए मामले को आज लोक-अदालत की संबंधित पीठ के समक्ष उठाया जाए।"

9. जब मामला लोक अदालत के समक्ष रखा गया, तो पीठासीन अधिकारी ने इस आधार पर पक्षों के बीच दर्ज समझौते पर कार्रवाई करने से इनकार कर दिया कि आरोपी व्यक्ति ने अपील चरण में मामले के समझौते के लिए चेक की 15% राशि जमा नहीं की थी। दामोदर एस. प्रभु (सुप्रा) के मामले में इस न्यायालय के फैसले में निहित "दिशानिर्देश" के अनुसार। पारित सटीक आदेश नीचे पुन: प्रस्तुत किया गया है:

"30.07.2011

मामला लोक अदालत क्रमांक 1 की खंडपीठ के समक्ष पेश हुआ।

अपीलकर्तो के साथ श्री एन.एस. यादव, अधिवक्तो.

अनावेदक श्री मोहन बाबू मंगल एडवोकेट के साथ।

मौजूदा मामला इंस्ट्रूमेंट एक्ट के नेगोशिएशन (एसआईसी) की धारा 138 के तहत पारित सजा आदेश के खिलाफ दायर अपील से संबंधित है, जिसमें दोनों पक्षों ने समझौते के लिए आवेदन दाखिल करते हुए अपने वकीलों के साथ उपस्थित होकर मामले को कम करने का अनुरोध किया है। लेकिन, प्रतिवादी/अभियुक्त ने दामोदर एम. प्रभु बनाम सैय्यद बाबा लाल के मामले में आपराधिक अपील संख्या 963/2010 में माननीय सर्वोच्च न्यायालय द्वारा पारित निर्णय दिनांक 3.5.2010 की गाइड लाइन के अनुसार अपील स्तर पर मामले के शमन के लिए चेक की 15 प्रतिशत राशि जिला विधिक सेवा प्राधिकरण में जमा नहीं की है। उक्त कारण से दोनों पक्षों को मामले के शमन की अनुमति देना विधि सम्मत नहीं है। अत: समझौतो आवेदन खारिज किया जातो है।

मामले को कानून के अनुसार निरस्त करने के लिए नियमित न्यायालय में वापस भेजा जाना चाहिए।"

10. यह वह आदेश है जिसे प्रतिवादी नंबर 2 ने भारत के संविधान के अनुच्छेद 227 के तहत एक रिट याचिका दायर करके चुनौती दी थी। उच्च न्यायालय ने उक्त रिट याचिका को यह कहते हुए खारिज कर दिया है

कि दामोदर एस प्रभु (सुप्रा) में इस न्यायालय का निर्णय संविधान के अनुच्छेद 141 के तहत अधीनस्थ न्यायालयों पर बाध्यकारी है और इसलिए, अधीनस्थ न्यायालय ने कोई कानूनी त्रुटि नहीं की है।

11. उपरोक्त निर्णय में दिए गए निर्देशों के रूप में "दिशानिर्देश" इस प्रकार पढ़ें:

"दिशानिर्देश

(1) परिस्थितियों में, यह निम्नानुसार प्रस्तोवित है:

(क) यह निर्देश दिया जा सकतो है कि सम्मन की रिट को उचित रूप से संशोधित किया जाए जिससे आरोपी को यह स्पष्ट हो सके कि वह मामले की पहली या दूसरी सुनवाई में अपराधों के शमन के लिए आवेदन कर सकतो है और यदि ऐसा कोई आवेदन किया जातो है , अभियुक्त पर कोई कॉस्ट लगाए बिना अदालत द्वारा समझौते की अनुमति दी जा सकती है।

(ख) यदि अभियुक्त उपर्युक्त के अनुसार कंपाउंडिंग के लिए आवेदन नहीं करतो है, तो यदि बाद के चरण में मजिस्ट्रेट के समक्ष कंपाउंडिंग के लिए आवेदन किया जातो है, तो कंपाउंडिंग की अनुमति इस शर्त के अधीन दी जा सकती है कि अभियुक्त को 10% का भुगतोन करना होगा।

कानूनी सेवा प्राधिकरण, या ऐसे प्राधिकारी, जिसे न्यायालय उचित समझे, के साथ समझौते के लिए एक शर्त के रूप में चेक राशि जमा की जानी चाहिए।

(ग) इसी तरह, यदि पुनरीक्षण या अपील में समझौतो के लिए आवेदन सत्र न्यायालय या उच्च न्यायालय के समक्ष किया जातो है, तो ऐसे समझौते की अनुमति इस शर्त पर दी जा सकती है कि अभियुक्त कॉस्ट के रूप में चेक राशि का 15% भुगतोन करतो है।

(घ) अंत में, यदि कंपाउंडिंग के लिए आवेदन सुप्रीम कोर्ट के समक्ष किया जातो है, तो यह आंकड़ा चेक राशि का 20% तक बढ़ जाएगा।

12. उपरोक्त पृष्ठभूमि में विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या इस न्यायालय द्वारा उपरोक्त निर्णय में दिए गए निर्देश/दिशा-निर्देश उन मामलों में लागू नहीं होते हैं जो लोक अदालतों में हल/निपटाए जाते हैं।

13. विद्वान वकील द्वारा हमारे समक्ष जो तर्क दिया गया अपीलकर्तो का कहना था कि इन दिशानिर्देशों में अनुसूची शामिल है कॉस्ट को निपटान पर लागू नहीं किया जाना चाहिए जो लोक अदालतों में प्रावधान के अनुरूप आते हैं क्योंकि ऐसी कॉस्ट लगाना बिल्कुल विपरीत होगा की धारा 19 के तहत गठित लोक अदालतों का उद्देश्य 1987 अधिनियम. इस

बात पर जोर दिया गया कि लोक अदालतों का गठन किया जाए न्यायालय के समक्ष लंबित विवादों के समाधान को बढ़ावा देना पार्टियों के बीच सौहार्दपूर्ण समझौतो और कम करने के लिए अपील सहित न्यायालयों के समक्ष लंबित मामलों की संख्या एस न्यायालय. विद्वान अधिवक्तो ने इस फैसले का भी हवाला दिया एससीसी 51, जिसमें यह माना जातो है कि समझौतो या समझौतो लोक अदालत के समक्ष पहुंचे और तदनुसार निर्णय पारित किया गया इसे सिविल न्यायालय की डिक्री के रूप में माना जाएगा धारा 21 और धारा 2(एएए) में निहित प्रावधान को मानना और (सी) 1987 अधिनियम के। न्यायालय ने इसे एक समझौतो भी माना अधिनियम की धारा 138 और लोक अदालत के फैसले के तहत एक मामले का उसके अनुसरण में पारित डिक्री के तहत निष्पादन योग्य होगा सिविल प्रक्रिया संहितो, 1908। इस संबंध में स्थिति उक्त निर्णय के पैरा 26 में संक्षेपित किया गया है, जो इस प्रकार है:

"26. उपरोक्त चर्चा से, निम्नलिखित प्रस्तोव सामने आते हैं:

(1) अधिनियम की धारा 21 की स्पष्ट भाषा को ध्यान में रखते हुए, लोक अदालत के प्रत्येक अवार्ड को एक सिविल अदालत की डिक्री माना जाएगा और इस तरह यह उस अदालत द्वारा निष्पादन योग्य होगी।

(2) अधिनियम सिविल अदालत और आपराधिक अदालत द्वारा किए गए संदर्भ के बीच ऐसा कोई अंतर नहीं करतो है।

(3) विभिन्न अदालतों (दीवानी और आपराधिक दोनों), न्यायाधिकरणों, परिवार न्यायालय, किराया नियंत्रण द्वारा संदर्भित मामलों के संबंध में पक्षों के बीच हुए समझौते के आधार पर अवार्ड पारित करने की लोक अदालत की शक्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं है। न्यायालय, उपभोक्तो निवारण मंच, मोटर दुर्घटना दावा न्यायाधिकरण और समान प्रकृति के अन्य मंच।

(4) भले ही किसी मामले को परक्राम्य लिखत अधिनियम, 1881 की धारा 138 के तहत और डीमिंग प्रावधानों के आधार पर आपराधिक अदालत द्वारा संदर्भित किया गया हो, लोक अदालत द्वारा समझौते के आधार पर पारित अवार्ड को एक सिविल न्यायालय द्वारा निष्पादन की एक डिक्री के रूप में माना जाना चाहिए।"

14. उपरोक्त आदेश से समर्थन लेते हुए, अपीलकर्तो के लिए विद्वान वकील की दलील यह थी कि अधिनियम की धारा 138 के तहत कार्यवाही भी आपराधिक प्रक्रिया संहितो, 1973 द्वारा शासित होती थी, ऐसा अवार्ड

सिविल प्रक्रिया संहितो, 1908 के तहत सिविल कोर्ट के डिक्री के रूप में निष्पादन योग्य था। इसलिए, दलील यह थी कि एक बार जब लोक अदालत के फैसले को डिक्री का प्रभाव दिया जातो है और इसके पीछे इस तरह की पवित्रतो जुड़ी होती है, तो इसे 'दिशानिर्देश' के अपवाद के रूप में शामिल किया जाना चाहिए। दामोदर एस. प्रभु के मामले (सुप्रा) में इस न्यायालय द्वारा तय किया गया।

15. हमने विद्वान परामर्शदातो के उपरोक्त कथन पर अत्यंत गहनतो से विचार किया है। यह पहली नजर में सार्थक प्रतीत होतो है जब इस प्रस्तुतिकरण को उस उद्देश्य और उद्देश्य के संदर्भ में माना जातो है जिसके साथ 1987 अधिनियम की धारा 19 के तहत लोक अदालतों का गठन किया गया है। निस्संदेह, स्पष्ट उद्देश्य इन लोक अदालतों के माध्यम से विवादों का त्वरित समाधान करना है, जिसमें मुकदमेबाजी की कॉस्ट में कटौती और आगे की अपीलों से बचने का अतिरिक्त लाभ भी शामिल है। 1987 अधिनियम के आगमन ने लोक अदालतों को वैधानिक दर्जा दिया, भारत के संविधान के अनुच्छेद 39-ए में संवैधानिक जनादेश के अनुसार, लोक अदालत के माध्यम से विवादों के निपटारे के विभिन्न प्रावधान शामिल हैं। यह समाज के कमजोर वर्गों को मुफ्त और सक्षम कानूनी सेवाएं प्रदान करने के लिए कानूनी सेवा प्राधिकरणों का गठन करने के लिए एक अधिनियम है तोकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि किसी भी नागरिक को आर्थिक या अन्य विकलांगतोओं के कारण न्याय पाने के

अवसरों से वंचित न किया जाए, और लोक अदालतों का आयोजन किया जाए। यह सुनिश्चित करें कि कानूनी प्रणाली का संचालन समान अवसर के आधार पर न्याय को बढ़ावा दे। वस्तुतः लोक अदालत की संकल्पना विश्व न्यायशास्त्र में एक अभिनव भारतीय देन है। यह न्याय वितरण प्रणाली का एक नया रूप है और पीड़ितों को उनके विवादों के निपटारे के लिए एक पूरक मंच प्रदान करने में काफी हद तक सफल रहा है। यह प्रणाली गांधीवादी सिद्धांतों पर आधारित है। यह वैकल्पिक विवाद समाधान प्रणालियों के घटकों में से एक है जो विशेष रूप से नागरिक प्रक्रिया संहितो, 1908 की धारा 89 में भी प्रदान किया गया है। यह मुकदमेबाजी का एक बहुत ही प्रभावी विकल्प साबित हुआ है। लोक अदालतें उपचार और सुरक्षा तक पहुंच बहाल करने और नियमित अदालतों में रुकावट डालने वाले लाखों छोटे मामलों के संस्थागत बोझ को कम करने के लिए बनाई गई हैं। यह पीड़ित दावेदार को, जिसका मामला अन्यथा दशकों तक नियमित अदालतों में चलतो, कम से कम अब कुछ मुआवजा प्रदान करतो है। लोक अदालत का पीठासीन न्यायाधीश सार्वजनिक सेवा के दस्तोवेजी रिकॉर्ड वाला एक अनुभवी निर्णायक होतो है और उसके पास कानूनी कौशल होतो है। अनुभव से पतो चला है कि लोक अदालतों के माध्यम से न केवल बड़ी संख्या में मामलों का निपटारा किया जातो है, बल्कि इस प्रणाली के निश्चित फायदे भी हैं, जिनमें से कुछ नीचे सूचीबद्ध हैं:

(क) त्वरित न्याय और लंबी अदालती प्रक्रियाओं से मुक्ति;

(ख) बिना किसी कीमत पर न्याय,

(ग) बैकलॉग मामलों की समस्याओं को हल करना; और

(घ) सौहार्दपूर्ण संबंधों का रखरखाव।

इस प्रकार, इसमें कोई संदेह नहीं है कि लोक अदालतें एक महत्वपूर्ण सार्वजनिक उद्देश्य की पूर्ति कर रही हैं।

16. ऐसा कहने के बाद, इसकी जांच की जानी चाहिए कि क्या दिए गए मामले में दामोदर एस प्रभु (सुप्रा) में निहित दिशानिर्देशों के अनुसार चेक राशि का 15% कॉस्ट होने पर यह लोक अदालतों के आंदोलन के लिए अपमानजनक हो जातो है, जोर दिया गया है। हालाँकि, इस पर चर्चा करने से पहले केंद्रीय मुद्दे में हम वर्तमान मामले की घटनाओं का विश्लेषण करना चाहेंगे, क्योंकि इससे हमारे सामने उठाए गए महत्वपूर्ण मुद्दे का उत्तर देने में मदद मिलेगी।

17. जैसा कि मामले के तथ्यात्मक विवरणों पर ध्यान देते हुए ऊपर बतोया गया है, यह ऐसी स्थिति नहीं थी जहां न्यायालय ने पक्षों को अपने विवाद के निपटारे के लिए लोक अदालत के माध्यम का उपयोग करने के लिए राजी किया। इसके विपरीत, पक्षों ने पहले ही मामले को आपस में सुलझा लिया था और इस संबंध में 30 जुलाई, 2011 को विद्वान अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश के समक्ष आवेदन दायर किया था और अनुरोध किया था कि इस मामले को आयोजित होने वाली लोक अदालत के समक्ष उठाया

जाए। उसी तोरीख को. यह 30 जुलाई, 2011 को विद्वान अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश द्वारा पारित आदेश से स्पष्ट है, जो पहले ही ऊपर निकाला जा चुका है।

18. प्रथम दृष्टया, हमें यह समझ में नहीं आया कि मामले को लोक अदालत में क्यों भेजा गया, जबकि पक्षों ने आपस में मामला सुलझा लिया था और इस आशय का आवेदन न्यायालय में दायर किया गया था। ऐसी स्थिति में, न्यायालय मामले को लोक अदालत में स्थानांतरित करने के बजाय स्वयं आदेश पारित कर सकतो था। हमने स्वयं लोक अदालत की संस्था के महत्व एवं महत्तो पर प्रकाश डाला है। हम अपने कर्तव्य में विफल होंगे यदि हम इसका उल्लेख नहीं करते हैं, हाल ही में, कुछ आलोचना भी हुई है, जो अन्य बातों के साथ-साथ, लोक अदालतों के समक्ष मामलों को रखे जाने के तरीके से संबंधित है। हमें यह सुनिश्चित करने के लिए तरीके ईजाद करने होंगे कि सिस्टम में विश्वास कायम रहे क्योंकि समग्र रूप से इस प्रणाली के माध्यम से न्याय तक पहुंच हासिल की जाती है। इसलिए, हम उन मामलों को भी लोक अदालत में भेजने की इस प्रवृत्ति की निंदा करते हैं जिनका निपटारा पहले ही हो चुका है। केवल सांख्यिकीय प्रयोजनों के लिए निर्णय/निपटान के आंकड़ों को बढ़ाने के लिए निपटाए गए मामलों को लोक अदालतों में भेजने की यह प्रवृत्ति एक स्वस्थ प्रथा नहीं है। हम विंडो ड्रेसिंग के लिए इस तरह की पद्धति अपनाने और विशेष

लोक अदालतों के आकर्षक परिणाम दिखाने के लिए वकीलों, बुद्धिजीवियों और आम जनतो की आलोचना से भी अनजान नहीं हैं।

19. जो भी हो, वर्तमान मामले के तथ्यों पर लौटते हुए, हम पाते हैं कि जब मामला पक्षों के बीच सुलझा लिया गया था और इस संबंध में अदालत के समक्ष आवेदन किया गया था, तो इस बात से इनकार नहीं किया जा सकतो है कि अदालत ने पारित कर दिया था अधिनियम की धारा 147 के तहत इस आवेदन पर समझौतो आदेश, दामोदर एस. प्रभु (सुप्रा) की कठोरतो के अनुसार, चेक राशि का 15% आवश्यक रूप से आरोपी व्यक्ति (प्रतिवादी संख्या 2) द्वारा जमा किया जाना था। यदि हम मानते हैं कि मामला लोक अदालत में भेजे जाने पर ऐसी कॉस्ट का भुगतोन नहीं किया जाना है, तो दामोदर एस. प्रभु (सुप्रा) में निहित निर्देशों की प्रयोज्यतो को दरकिनार करने के लिए आम तौर पर इस मार्ग का सहारा लिया जाएगा। ऐसी स्थिति को बर्दाश्त नहीं किया जा सकतो.

20. दामोदर एस. प्रभु (सुप्रा) में दिशानिर्देश निर्धारित करने का उद्देश्य उक्त निर्णय में ही बतोया गया है। उस मामले में न्यायालय मामले के उस चरण को लेकर चिंतित था जब अधिनियम की धारा 147 के तहत अपराध के शमन की अनुमति दी जानी थी। अन्यथा कहें तो, सवाल यह था कि क्या ऐसा समझौतो केवल ट्रायल कोर्ट चरण में ही हो सकतो है या अपीलीय चरण में भी इसकी अनुमति है। यह नोट किया गया था कि

अधिनियम की धारा 147 को शामिल करने से पहले भी, वर्ष 2002 में संशोधन के माध्यम से, कुछ उच्च न्यायालयों ने मुकदमेबाजी के बाद के चरणों के दौरान अधिनियम की धारा 138 द्वारा विचारित अपराध के शमन की अनुमति दी थी। इस न्यायालय द्वारा ओ.पी. ढोलकिया बनाम हरियाणा राज्य, (2000) 1 एससीसी 672 और कुछ अन्य मामलों में भी ऐसा किया गया था, जिन पर खंडपीठ ने गौर किया था। इन निर्णयों से न्यायालय ने निष्कर्ष निकाला कि चेक बाउंडिंग मामलों में मुकदमेबाजी के बाद के चरणों में अपराध के शमन की अनुमति दी गई थी।

21. ऐसा करते समय, न्यायालय ने उस घटना पर भी ध्यान दिया जो इस देश में अधिनियम की धारा 138 के तहत मामलों की सुनवाई के तरीके में व्यापक रूप से प्रचलित थी। यह देखा गया कि आरोपी व्यक्तियों की ओर से इन कार्यवाहियों को खींचने और निपटान प्रक्रिया का सहारा लेने की प्रवृत्ति केवल उस स्तर पर थी जब आरोपी व्यक्तियों को दीवार पर चढ़ा दिया गया था। यही कारण है कि दायर की गई अधिकांश शिकायतों में एक तरफ अंतिम फैसले से पहले समझौतो या राजीनामा हो जातो है और यहां तक कि जिन मामलों में फैसला सुनाया जातो है और दोषसिद्धि दर्ज की जाती है, ऐसे मामलों को अपीलीय चरण में निपटाया जातो है। फैसले के पैरा 13 में इस बात का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है:

"13. यह बिल्कुल स्पष्ट है कि चेक के अनादर के अपराध के संबंध में, यह उपाय का प्रतिपूरक पहलू है जिसे दंडात्मक पहलू पर प्राथमिकतो दी जानी चाहिए। विद्वान अटॉर्नी जनरल द्वारा उठाई गई आशंकाओं के लिए कुछ समर्थन भी है चेक बाउंस के अधिकांश मामलों में वास्तव में समझौतो किया जा रहा है या समझौते के माध्यम से निपटारा किया जा रहा है, भले ही मुकदमेबाजी के बाद के चरणों के दौरान इससे न्याय- वितरण में अनुचित देरी हो रही है। यहां समस्या यह है कि वादकारियों की प्रवृत्ति देर से समझौते के रूप में समझौते को चुनने की है। इसका मतलब उनके विवाद को हल करना है। इसके अलावा, विद्वान अटॉर्नी जनरल की ओर से दायर लिखित दलीलों में इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि सीआरपीसी की धारा 320 के विपरीत, परक्राम्य लिखत अधिनियम की धारा 147 इस बारे में कोई स्पष्ट मार्गदर्शन नहीं देती है कि समझौतो किस चरण में होगा किया जा सकतो है या नहीं किया जा सकतो है और क्या शिकायतकर्तो के कहने पर या अदालत की अनुमति से समझौतो किया जा सकतो है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, विद्वान अटॉर्नी जनरल का कहना है कि वैधानिक मार्गदर्शन के अभाव में, जैसे ही मजिस्ट्रेट

शिकायतों का संज्ञान लेते हैं, पार्टियां अंतिम उपाय के रूप में समझौतो का विकल्प चुन रही हैं। इस तरह के व्यवहार के लिए एक स्पष्टीकरण यह हो सकतो है कि आरोपी व्यक्ति मुकदमेबाजी के विभिन्न चरणों के माध्यम से आगे बढ़ने का मौका लेने के इच्छुक हैं और फिर समझौते का रास्तो तभी चुनते हैं जब कोई अन्य रास्तो नहीं बचतो है। हालांकि इस तरह के व्यवहार को वादियों के दृष्टिकोण से तर्कसंगत माना जा सकतो है, लेकिन कठिन तथ्य यह है कि समझौते का विकल्प चुनने में अनुचित देरी विभिन्न स्तरों पर अदालतों के समक्ष लंबित बकाया में योगदान करती है। यदि अभियुक्त मुकदमेबाजी के बाद के चरण में अपराध को कम करने के माध्यम से समझौतो करने या समझौतो करने को तैयार है, तो यह आम तौर पर शिकायतकर्तो के मामले में कुछ योग्यतो का संकेत है। ऐसे मामलों में यह वांछनीय होगा कि पक्ष मुकदमेबाजी के शुरुआती चरणों के दौरान समझौते का विकल्प चुनें। हालाँकि, यदि आरोपी के पास गलती, जालसाजी या जबरदस्ती जैसे अन्य आधारों पर वैध बचाव है, तो मामले पर निर्दिष्ट मंचों के माध्यम से मुकदमा चलाया जा सकतो है।"

22. इस विशेष प्रवृत्ति ने न्यायालय को उन पक्षों पर कॉस्ट लगाने की एक श्रेणीबद्ध योजना के लिए दिशानिर्देश तैयार करने के लिए अटॉर्नी जनरल के अनुरोध को स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया था, जो अपराध के शमन में अनावश्यक देरी करते हैं क्योंकि कॉस्ट जमा करने की ऐसी आवश्यकतो एक निवारक के रूप में कार्य करेगी। किसी भी स्तर पर अपराधों के नि:शुल्क और आसान समझौते के बाद से, चाहे कितनी भी देर हो जाए, चेक जारी करने वाले को वर्षों तक मामलों के निपटारे में देरी करने के लिए प्रोत्साहन दिया गया था। इस कारण से, न्यायालय ने किसी विशेष मामले में निपटान के चरण के आधार पर अलग-अलग कॉस्ट लगाने के साथ कंपाउंडिंग की अनुमति देने वाले दिशानिर्देश तैयार किए।

23. "दिशानिर्देश" तैयार करने के बाद, जो पहले से ही ऊपर निकाले गए हैं, न्यायालय ने उक्त निर्णय के पैरा 17 में बहुत प्रासंगिक टिप्पणियां कीं जिनका वर्तमान मामले में असर होगा। इस प्रकार, हम इसे नीचे पुन: प्रस्तुत करते हैं:

> "17. हम इस विचार के प्रति भी सचेत हैं कि उपरोक्त उद्धृत दिशानिर्देशों के न्यायिक समर्थन को न्यायिक कानून बनाने के एक कार्य के रूप में देखा जा सकतो है और इसलिए यह विधायी क्षेत्र में घुसपैठ है। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि धारा 147 अधिनियम इस बारे में कोई मार्गदर्शन नहीं

देतो है कि अधिनियम के तहत अपराधों के शमन के साथ कैसे आगे बढ़ना है। हम पहले ही बतो चुके हैं कि सीआरपीसी की धारा 320 के तहत विचार की गई योजना का कडाई से पालन नहीं किया जा सकतो है। विधायी शून्यतो को देखते हुए, हमें कुछ सुझावों के समर्थन में कोई बाधा नहीं है, जो अधिनियम की धारा 138 से जुड़े मामलों में अपराध की संरचना में अनावश्यक देरी से वादियों को हतोत्साहित करने के लिए डिज़ाइन किए गए हैं। कॉस्ट लगाने की श्रेणीबद्ध योजना मुकदमेबाजी के प्रारंभिक चरण में समझौते को प्रोत्साहित करने का एक साधन है यथास्थिति में, न्यायालय का बहुमूल्य समय इन मामलों की सुनवाई पर खर्च होतो है और पक्ष किसी भी न्यायालय शुल्क का भुगतोन करने के लिए उत्तरदायी नहीं होते हैं क्योंकि कार्यवाही आपराधिक प्रक्रिया संहितो द्वारा शासित होती है, भले ही अपराध का प्रभाव काफी हद हो, निजी पार्टियों तक ही सीमित है। भले ही सक्षम न्यायालय द्वारा कॉस्ट लगाना विवेक का विषय है, एकरूपतो के हित में कॉस्ट के पैमाने का सुझाव दिया गया है। सक्षम न्यायालय निश्चित रूप से किसी मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों के संबंध में कॉस्ट को कम कर सकतो है,

जबकि इस तरह के भिन्नतो के कारणों को लिखित रूप में दर्ज कर सकतो है। प्रामाणिक वादियों को निश्चित रूप से कार्यवाही को उसके तोर्किक अंत तक लड़ना चाहिए। अतीत में भी, इस न्यायालय ने विषय-वस्तु के संबंध में दिशानिर्देश तैयार करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 142 के तहत पूर्ण न्याय करने की अपनी शक्ति का उपयोग किया है, जहां विधायी शून्यतो थी।"

24. उपरोक्त पैरा को पढ़ने से यह स्पष्ट है कि न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उक्त दिशानिर्देशों को तैयार करना न्यायिक कानून नहीं है। न्यायालय की राय में, चूंकि अधिनियम की धारा 147 में अधिनियम के तहत अपराधों के शमन के साथ आगे बढ़ने के बारे में कोई मार्गदर्शन नहीं था और दंड प्रक्रिया संहितो 1973 की धारा 320 का इस संबंध में कड़ाई से पालन नहीं किया जा सका। अधिनियम की धारा 138 से संबंधित अपराधों के मामले में, एक विधायी शून्यतो थी जिसने न्यायालय को निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए उन दिशानिर्देशों को तैयार करने के लिए प्रेरित किया:

(i) अधिनियम की धारा 138 से जुड़े मामलों में वादियों को अपराधों की संरचना में अनावश्यक देरी करने से हतोत्साहित करना;

(ii) इसके परिणामस्वरूप मुकदमेबाजी के प्रारंभिक चरण में कंपाउंडिंग को बढ़ावा मिलेगा जिससे ऐसे मामलों की सुनवाई पर खर्च होने वाले न्यायालय के बहुमूल्य समय की बचत होगी; और

(iii) भले ही सक्षम न्यायालय द्वारा कॉस्ट लगाना विवेक का मामला है, एकरूपतो प्राप्त करने के लिए कॉस्ट के पैमाने का सुझाव दिया गया था।

साथ ही, न्यायालय ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि संबंधित न्यायालय किसी मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों के संबंध में कॉस्ट को कम करने के लिए स्वतंत्र होगा, जबकि इस तरह के भिन्नतो के कारणों को लिखित रूप में दर्ज करेगा।

25. उपरोक्त से जो निष्कर्ष निकलतो है वह यह है कि आम तौर पर उक्त निर्णय में निर्धारित दिशानिर्देशों में निर्दिष्ट कॉस्ट को समझौते की अनुमति देते समय आरोपी व्यक्तियों पर लगाया जाना चाहिए। संबंधित न्यायालय द्वारा लिखित रूप में दर्ज किए जाने वाले अच्छे कारणों से, किसी विशेष मामले में इससे विचलन हो सकतो है। यही कारण है कि न्यायालय ने तीन उद्देश्यों का उल्लेख किया है जिन्हें उन दिशानिर्देशों को तैयार करके प्राप्त करने की मांग की गई थी, जैसा कि ऊपर बतोया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस निर्णय में "दिशानिर्देश" का निर्धारण भी एक विशेष सार्वजनिक उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए किया गया था। यहां विचारणीय

मुद्दा यह है कि क्या लोक अदालत में किसी मामले का निर्णय/निपटारा होने पर इन दिशानिर्देशों का पालन किया जाना चाहिए? हमारा उत्तर यह है कि ऐसा जरूरी नहीं है और दोनों स्थितियों का ध्यान रखते हुए एक उचित संतुलन बनाया जा सकतो है।

26. इसे ध्यान में रखते हुए, हमारी राय है कि जब किसी मामले का फैसला लोक अदालत में होतो है, तब भी दामोदर एस. प्रभु (सुप्रा) में निहित दिशानिर्देशों का पालन करने की आवश्यकतो को आम तौर पर समाप्त नहीं किया जाना चाहिए। हालाँकि, यदि इससे विचलित होने का कोई विशेष/विशिष्ट कारण है, तो न्यायालय उपचारात्मक नहीं है क्योंकि दामोदर एस. प्रभु (सुप्रा) ने स्वयं संबंधित न्यायालय को मामले के विशिष्ट तथ्यों और परिस्थितियों के संबंध में कॉस्ट कम करने का विवेक दिया है। ऐसे भिन्नतो के बारे में लिखित में कारण दर्ज करते समय। इसलिए, उन मामलों में जहां मामले का फैसला/निपटारा लोक अदालत में किया जाना है, यदि न्यायालय को लगतो है कि यह पार्टियों के सकारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है, तो ऐसे उचित मामलों में, न्यायालय हमेशा न्यूनतम जुर्माना लगाकर कॉस्ट को कम कर सकतो है। कॉस्ट या उसे माफ भी कर सकते हैं। इसके लिए, यह पार्टियों, विशेष रूप से आरोपी व्यक्ति पर निर्भर करेगा कि वे कॉस्ट में छूट/कमी के लिए एक विश्वसनीय मामला बनाएं और संबंधित न्यायालय को इसके बारे में समझाएं। हमारे अनुसार, कार्रवाई का यह तरीका, दो प्रतिस्पर्धी लेकिन समान रूप से महत्वपूर्ण हितों के बीच

संतुलन बनाएगा, अर्थात्, एक तरफ दामोदर एस. प्रभु (सुप्रा) में उल्लिखित उद्देश्यों को प्राप्त करना और दूसरी तरफ सार्वजनिक हित, जिसे हासिल करने की कोशिश की जा रही है। लोक अदालतों के माध्यम से मामले के निपटारे/समाधान को प्रोत्साहित करना।

27. उपरोक्त तरीके से स्थिति को सीधा करने के बाद, जहां तक वर्तमान मामले का संबंध है, जैसा कि हमने पाया है कि पार्टियों ने पहले ही मामले को सुलझा लिया था और लोक अदालत में जाने का उद्देश्य केवल लोक अदालत का रबर स्टांप प्राप्त करना था। इसके प्रतिपादन के रूप में, हमें आक्षेपित निर्णय में कोई त्रुटि नहीं मिलती है, हालांकि हम प्रतिवादी संख्या 2 द्वारा दायर रिट याचिका को खारिज करने में उच्च न्यायालय द्वारा निकाले गए निष्कर्ष के समर्थन में अपने स्वयं के कारण दे रहे हैं जबकि लोक अदालतों के समक्ष आने वाले ऐसे मामलों में आगे से किस दृष्टिकोण का पालन किया जाना चाहिए ।

28. उपरोक्त शर्तों के अनुसार अपील का निपटारा किया जातो है।

देविका गुजराल अपील निस्तोरित.

यह अनुवाद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस टूल 'सुवास' की सहायतो से अनुवादक न्यायिक अधिकारी श्री विकास सिंह चौधरी(RJ00544) आर.जे.एस. द्वारा किया गया है।

अस्वीकरणः यह निर्णय पक्षकार को उसकी भाषा में समझाने के सीमित उपयोग के लिए स्थानीय भाषा में अनुवादित किया गया है और किसी अन्य उददेश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकतो है। सभी व्यावहारिक और आधिकारिक उददेश्यों के लिए, निर्णय का अग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उददेश्य से भी अग्रेजी संस्करण ही मान्य होगा।